

धम्मवाणी

शीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मदं सच्चवेदिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं॥

धम्मपद- २१७.

जो शीलसंपन्न, विपश्यनासंपन्न, धर्मनिष्ठ (नव प्रकार के लोकोत्तर धर्मों में स्थित), सत्यवादी, कर्तव्यपरायण है, उसे लोग प्यार करते हैं।

धारण करे तो धर्म

सम्यक दर्शन क्या है

(जी-टीवी पर क्रमशः चौवालीस कड़ियों में प्रसारित पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों की बारहवीं कड़ी)

प्राचीन भारत के आर्यधर्म के तीन हिस्से – शील, समाधि और प्रज्ञा। शील पालन करना बड़ा कल्याणकारी है, बड़ा मंगलकारी है। शीलवान व्यक्ति अपने आपको पीड़ित नहीं करता। स्वयं भी सुख का जीवन जीता है, औरों को भी सुख का जीवन जीने में मदद करता है। औरों को पीड़ित नहीं करना, बहुत अच्छा है, धर्म की बुनियाद है, नींव है। लेकिन कोई यह समझे कि केवल शील पालन करने मात्र से मैं सारे दुःखों से विमुक्त हो जाऊंगा, सारे विकारों से विमुक्त हो जाऊंगा, भवमुक्त हो जाऊंगा, तो गलत बात है। ऐसा होता नहीं। भीतर के विकार तो जैसे के जैसे पड़े रह गये, उनका निष्कासन नहीं हुआ। तो शील अपने आप में अच्छा है पर इसलिए अच्छा है कि हम सम्यक समाधि का अगला कदम उठा सकें।

सम्यक समाधि हो तो चित्त एकाग्र भी रहता है। उसकी सफाई भी शुरू हो जाती है। ऊपर-ऊपर से सफाई होते-होते, शुद्धि होते-होते एक सीमा तक गहराइयों तक भी सफाई होती है। जैसे उन दिनों के भारत में आठ प्रकार के ध्यान हुआ करते थे। प्रथम ध्यान में इतनी सफाई हुई, द्वितीय में इतनी हुई, यों करते-करते आठवें ध्यान तक पहुँचे तो मन बहुत साफ हो गया। बहुत साफ हुआ। सम्यक संबुद्ध बनने के पहले इस गृहत्यागी सिद्धार्थ गौतम ने उस समय के दो बड़े आचार्यों के पास जाकर के सातवाँ और आठवाँ ध्यान सीखा। चित्त बड़ा निर्मल भी हुआ। पर देखता है कि विकारों की जड़ें नहीं निकली। अनेक जन्मों से संचित विकारों की जो जड़ें हैं, वे अब तक कायम हैं। उनके निकले बिना पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ। तो खोज करते-करते यह विपश्यना विद्या खोज निकली। प्रज्ञा जागी। प्रज्ञा जागती है तो ही जड़ें निकलने का काम शुरू होता है। बिना प्रज्ञा जागे कोई समझे कि मैं अपने मन को नितान्त निर्मल कर लूँगा। ऐसा होता नहीं। शील हमारे दृढ़ हों, पुष्ट हों, सम्यक हों, शुद्ध हों, तो

समाधि सम्यक होगी, शुद्ध होगी, बलवान होगी। तो हम देखेंगे कि प्रज्ञा जागने का काम शुरू हुआ।

मुक्ति-पथ के आठ अंग – तीन अंग शील के अंतर्गत आये, तीन अंग समाधि के अंतर्गत आये। बाकी बचे हुए दो अंग प्रज्ञा के अंतर्गत आते हैं – **सम्मासङ्खप्पो और सम्मादिट्ठि**। 'सङ्खप्पो' – संकल्प-विकल्प अभी भी चल रहे हैं। विचार-वितर्क अभी भी चल रहे हैं। आवश्यक नहीं कि पहले चित्त बिल्कुल निर्विकल्प हो जाय, बिल्कुल निर्विचार हो जाय तभी प्रज्ञा जागनी शुरू होगी। ऐसा नहीं होता। अभी विचार चल रहे हैं लेकिन विचारों में एक तब्दीली आने लगी, एक परिवर्तन आने लगा, अच्छे के लिए आने लगा।

जैसे नया-नया साधक किसी तपोभूमि पर आकर काम शुरू करता है तो बेचारा क्या करे? काम शुरू करता है तो जो विचार उठते हैं, बड़े मैल लिए हुए विचार उठते हैं। विकारों के विचार उठते हैं क्योंकि वैसा ही संग्रह कर रखा है। बहुत संग्रह कर रखा है। कि सीने क्रोधही क्रोधके विकार इकट्ठे कर रखे हैं। अब तो सारा काम ऐसा है कि इसमें मन का आपरेशन शुरू हुआ और जहाँ फोड़े का आपरेशन शुरू हुआ कि पीप निकलनी शुरू हुई। अरे, पीप ही निकलेगी। फोड़े में से गुलाबजल कहां से निकलेगा? आपरेशन शुरू हुआ तो जो मैल ऊपर-ऊपर था वह फूटकर आगे आने लगा, उभर कर आने लगा। बहुत क्रोधका भाव है तो चिंतन में, संकल्प-विकल्प में क्रोधही क्रोध, हिंसा-प्रतिहिंसा की भावना, प्रतिशोध की भावना ही उभरेगी। उसने ऐसा कर दिया, उसने ऐसा कह दिया। उससे ऐसा बदला लेंगे, उससे ऐसा बदला लेंगे। जैसे ही जैसे विचार।

कि सीमें भय के संस्कार बहुत अधिक हैं तो जैसे ही काम शुरू किया, इस बात का भय, उस बात का भय। कि सीमें काम-वासना का बहुत गहरा संस्कार है, तो काम शुरू किया तो वासना जागी, वासना जागी। ये विकार जो बहुत गहरे-गहरे हैं, इन विकारों की जो मोटी-मोटी परतें मानस पर हैं, फूटने लगीं, उभरने लगीं। तो चिंतन उसी प्रकार का होने लगा। एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते तो देखता है, अरे, अब विचारों में परिवर्तन आने लगा। वे जो गंदे विचार थे, विकारों से भरे हुए विचार थे उनका उभरना ठीक

था। विचार उभर रहे हैं, हम अपना काम कर रहे हैं, सांस को देख रहे हैं। विचार उभर रहे हैं, हम अपना काम कर रहे हैं, सांस को देख रहे हैं। तो धीरे-धीरे उनकी परतें उतरती जाती हैं, उतरती जाती हैं। संकल्प-विकल्प अभी भी चलते हैं, विचार अभी भी चलते हैं पर अब धर्म-संबंधी विचार आने लगे, हिंसा-प्रतिहिंसा के विचार नहीं, वासना के विचार नहीं। अब तो –धर्म ऐसा होता है, ऐसे धर्म पर मैं चल रहा हूँ। यह मार्ग अच्छा है।... इसी का चिंतन चलता है पर चिंतन तो चलता ही है। कभी-कभी भारकोई विकार भी जागता ही है पर उतना गहरा नहीं। जैसे सूरज उगा है और उसके सामने बहुत मोटे-मोटे काले-काले बादल हैं तो अंधकार ही अंधकार। बादल हटने लगे। काले-काले बादल हटे। घने-घने बादल हटे। अब जरा सफेद-सफेद बादल हैं। तो बादल तो अब भी हैं। लेकिन प्रकाश मालूम होने लगा, जरा प्रकाश मालूम होने लगा। बस, इसी तरह जहां संकल्प सम्यक हुए कि प्रज्ञा की ओर बढ़ने लगा। इसीलिए इसको प्रज्ञा का एक अंग कहा कि पहले हमारे विचार तो शुद्ध हों।

अब इसके बाद अगला कदम होगा – **सम्मादिट्ठि** माने सम्यक दर्शन। बहुत भ्रांति पैदा करने वाला है यह शब्द। 'दर्शन' शब्द ही अपने आप में बहुत भ्रांतियां पैदा करता है, बहुत भ्रांतियां पैदा करता है। आज तो करता ही है, पच्चीस-छब्बीस शताब्दियों पूर्व के भारत में भी बहुत भ्रांति पैदा करने वाला। भाषा कि तनी ही समृद्ध क्यों न हो और उस समय के भारत की भाषाएं तो बहुत समृद्ध, विशेषकर के अध्यात्म के क्षेत्र की भाषा बड़ी समृद्ध। लेकिन कि तनी ही समृद्ध हो जाय फिर भी उसकी एक सीमा होती है। कि सी-कि सी मामले में बेचारी कंगाल हो जाती है। उसे और शब्द नहीं मिलते। तो बहुत बार ऐसा होता है कि एक ही शब्द अनेकार्थी हो जाता है, उसके अनेक अर्थ होते हैं।

उन दिनों के भारत में भी दर्शन शब्द के अनेक अर्थ थे, आज भी अनेक अर्थ हैं। एक बड़ा प्रचलित अर्थ तो यह कि दर्शन माने देखना। आंख खोल करके देखा, कोई रूप देखा, कोई रंग देखा, कोई रोशनी देखी, कोई आकृति देखी। यह देखना, यह दर्शन – सम्यक दर्शन से इसका दूर-परे का भी संबंध नहीं। इसमें नहीं उलझना चाहिए। यह रूप, रंग, रोशनी, आकृति देखने का दर्शन 'दर्शन' नहीं है।

एक और अर्थ, जो ध्यान के क्षेत्र में चलता था, अध्यात्म के क्षेत्र में चलता था। अनेक प्रकार के ध्यान होते हैं, आज भी करते हैं, उन दिनों भी करते थे। कल्पनाओं के ध्यान होते हैं। आंख बंद करके कि सी देवी की, देवता की, ईश्वर की, ब्रह्म की, अल्लाह-ताला की या बुद्ध की, महावीर की या अपने गुरु अथवा किसी संत की – उसकी आकृति मन में लाकर के ध्यान करता है। भले उसने वह आकृति देखी नहीं, कभी वह रूप देखा नहीं। कि सी चित्रकार ने अपनी कल्पना से वह चित्र बना दिया, अब उसके लिए वह कल्पनिक चित्र ही उसकी साधना का आधार बन गया। कि सी मूर्तिकार ने अपनी कल्पना से कोई मूर्ति बना दी, अब वह मूर्ति इसकी कल्पना का आधार बन गयी। या कि सी साहित्यकार ने शब्दों में कोई चित्र खेंचा, उसको पढ़ते-पढ़ते एक कल्पनिक चित्र उभर आया और उसका ध्यान करने लगा। यों कल्पना का ध्यान है। जैसा भी है। अपने मन पर एक छाप है – अमुक देवी का रूप ऐसा है, अमुक देवता का रूप ऐसा है। जिसको मैं ईश्वर कहता हूँ उसका रूप ऐसा है। जिसको ब्रह्म

कहता हूँ उसका रूप ऐसा है। जिसको आत्मा कहता हूँ उसका रूप ऐसा है, इत्यादि-इत्यादि। अब उसका ध्यान कर रहा है।

ध्यान का एक नियम यह कि बार-बार, बार-बार जिस कि सी रूप या आकृति या रंग या रोशनी का ध्यान करेंगे और करते जायेंगे, करते जायेंगे तो एक ऐसी अवस्था आयेगी कि उसका बाह्य प्रक्षेपण होने लगेगा। जिसकी छाप मन पर पड़ी हुई थी, अब वह बंद आंखों के सामने दिखने लगेगा। उस देवी का रूप दिखने लगेगा, उस देवता का रूप दिखने लगेगा, उस ईश्वर का रूप दिखने लगेगा, उस ब्रह्म का रूप दिखने लगेगा, उस आत्मा का रूप दिखने लगेगा। यह अपने अनुभव से भी जानता हूँ और अनेक साधक जो विपश्यना के शिविरों में आते हैं और साधना करते हुए अपना अनुभव सुनाते हैं उससे भी स्वीकार करता हूँ। यह बाह्य प्रक्षेपण होने लगा। धर्म की पूरी समझ नहीं है तो साधक इससे बड़ा प्रसन्न होता है। अरे, मुझे देवी के दर्शन हो गये, मुझे देवता के दर्शन हो गये, मुझे ईश्वर के दर्शन हो गये। मुझे मेरी आत्मा के दर्शन हो गये। हम कहते हैं, यह हो गया, बड़ी अच्छी बात। लेकिन नफिर भी अपने शरीर के बारे में क्या सच्चाई है उसे जान। अपने चित्त के बारे में क्या सच्चाई है उसे जान। तेरे भीतर विकारों का उद्गम कहाँ हो रहा है उसे जान। उसका संवर्धन कैसे हो रहा है उसे जान और उस पर रोक लगा करके उसका निष्कासन कैसे हो, इसको जान। यह तेरे काम की बात। तो यह जो रूप का दर्शन हुआ, आकृति का दर्शन हुआ, रोशनी का दर्शन हुआ, सम्यक दर्शन से उसका कोई लेन-देन नहीं है। कतई लेन-देन नहीं है। भ्रम में न पड़ जायँ।

दर्शन का एक और अर्थ जो कि बहुत ही भ्रांति पैदा करने वाला, बहुत भ्रांति पैदा करने वाला। उन दिनों भी और आज भी दर्शन कहते हैं फिलोसॉफी को। कोई दार्शनिक मान्यता – इस परंपरा की यह फिलोसॉफिक मान्यता, उस परंपरा की वह फिलोसॉफिक ल मान्यता। अब उस मान्यता का ध्यान कर रहा है। तो जिस फिलोसॉफी को जो संप्रदाय, जो परंपरा मान रही है उस परंपरा में जन्मा हुआ व्यक्ति, उस परंपरा में पला हुआ व्यक्ति, उस परिवार में, उस समाज के माहौल में यही सुनता आया कि यही फिलोसॉफी सत्य है, यही दार्शनिक मान्यता सत्य है। उसको और सारी बातें झूठ लगती है। यही सत्य है, क्योंकि उसके इतने मोटे-मोटे लेप लगा लिए। बचपन से बुद्धि पर लेप लगते-लगते इतना गहरा विश्वास हो गया कि बस यही ठीक है, बाकी सब गलत हैं। जो हमारी दार्शनिक मान्यता है वह सम्यक है। जो औरों की दार्शनिक मान्यताएं हैं, सब मिथ्या हैं, भरमाने वाली, नरक की ओर ले जाने वाली हैं। हमारी दार्शनिक मान्यता मुक्ति की ओर ले जाने वाली है। यह दार्शनिक मान्यता, यह दार्शनिक मान्यता, भिन्न-भिन्न परंपराओं की भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं। भिन्न-भिन्न संप्रदायों की भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं। तो भाई, किसे सम्यक कहें? किसे मिथ्या कहें? और इसको लेकर के जो लड़ाई-झगड़े, जो वाद-विवाद, जो तर्क-वितर्क, तो धर्म कहाँ रहा? बड़ी भ्रांति पैदा की। दर्शन शब्द का यह अर्थ बहुत भ्रांति पैदा करने वाला हुआ। इसीलिए कभी-कभी यह कहता हूँ कि दर्शन शब्द का यह अर्थ धर्म का बड़ा विरोधी है। इन दोनों का कोई ताल-मेल नहीं बैठता। तो क्या है सम्यक दर्शन?

दर्शन शब्द का एक और अर्थ जो प्राचीन भारत में अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत प्रयोग किया जाता था। अब धीरे-धीरे उसे भूल

बैठे। उन दिनों दर्शन का अर्थ होता था – अनुभव करना। कि सी भी सच्चाई को अनुभूति पर उतारे तो दर्शन हुआ, साक्षात्कार हुआ, अपनी अनुभूति पर उतरा। सच्चाई वह की वह होगी। कि सी दूसरे की अनुभूति पर उतरी तो उसके लिए दर्शन है। उसे दर्शन हुआ। मेरी अनुभूति पर उतरी, तो मेरे लिए दर्शन हुआ। तो स्वयं मेरी अनुभूति पर जो सच्चाई उतर रही है वह दर्शन। उसे ही आज की भाषा में कहें – ‘देखना’। उन दिनों की भाषा में उसी को दर्शन भी कहते थे, ‘पश्यना’ भी कहते थे। आज कहते हैं ‘देखना’। तो जैसे इस शब्द के सही अर्थ की गूँज आज भी कभी-कभी सुनाई देती है। पूरी तरह लोग नहीं समझ पाते पर गूँज है जब कोई कहता है कि अरे, खाकर तो देख। तो खाकर क्या देखे? खाकर उसका रंग देखे? उसका रूप देखे? अरे, यह रसगुल्ला खाकर देख, बहुत मीठा है। अरे, तू खाकर के अनुभव कर इसका, बहुत मीठा है। उसका रूप और रंग थोड़े ही देखना है। यह शर्वत पीकर देख, बहुत मीठा है, बड़ा स्वादिष्ट है। तो पीकर क्या देखे? उसका रंग देखे? उसका रूप देखे? अरे, पीकर तू स्वयं अनुभव कर, कि तना अच्छा है। चख कर तो देख। यह संगीत बड़ा मधुर है। अरे, सुन कर तो देख। तो सुन कर क्या देखे? रंग देखे? रूप देखे? आकृति देखे? अनुभव कर। इसे सुन करके स्वयं अनुभव कर। यह दृश्य देख कि तना सुंदर है, कि तना मनोरम है! देख, तो अनुभव कर। केवल उसका रूप और आकृति देख के नहीं रह जाय। यह देख, परफ्यूम कि तना सुगंध वाला है! अरे, सूँघ कर तो देख! तो सूँघ कर क्या देखे? उसका रंग देखे? उसका रूप देखे? उसकी आकृति देखे? अनुभव कर, यह सही अर्थ हुआ। यह कल्याणकारी अर्थ हुआ। साधना के क्षेत्र का यही अर्थ कि अनुभूति पर उतार। रंग, रूप, रोशनी, आकृति से लेन देन नहीं है। स्वयं अपनी अनुभूति पर उतरे।

जो सच्चाई मेरी अपनी अनुभूति पर उतर रही है वह मेरे लिए सम्यक दर्शन है और वह जो ज्ञान जगाती है वही सम्यक ज्ञान है। पोथियों वाला ज्ञान ज्ञान नहीं है, अपनी अनुभूतियों के बल पर जागा हुआ ज्ञान ज्ञान है। जो अनुभूति सिद्धार्थ गौतम को हुई उस अनुभूति से जो ज्ञान उसे जागा, जो बोधि उसे जागी, उससे केवल एक व्यक्ति मुक्त हुआ, दूसरा नहीं। और वह व्यक्ति सिद्धार्थ गौतम, वही मुक्त हुआ। और भी जो-जो लोग मुक्त हुए, अपनी अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार करके मुक्त हुए। पुस्तकें पढ़ करके, ग्रंथ पढ़ करके कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति बुद्ध नहीं बन सकता। कोई व्यक्ति अरहंत नहीं बन सकता। कोई व्यक्ति स्थितप्रज्ञ नहीं बन सकता। कोई व्यक्ति अनासक्त नहीं बन सकता। कोई व्यक्ति वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह बन ही नहीं सकता। अनुभूतियों पर सच्चाई उतरे। अनुभूतियों पर सच्चाई उतरे तो प्रज्ञा जागने लगी। कल्याणकामार्ग खुलने लगा। वह तब होगा जबकि बाकी सारा काम भी अनुभूतियों पर उतार रहे हैं।

शील, सदाचार का केवल वर्णन करके रह जायँ, शील ऐसा होता है, सदाचार, ऐसा होता है। उसका उपदेश दे करके रह जायँ। ऐसे शील पालन करना चाहिए, ऐसे सदाचार पालन करना चाहिए। उसे स्वीकार करके रह जायँ। हां, हां करना तो चाहिए, बहुत अच्छा है, बहुत अच्छा है। लेकिन करे नहीं। करे नहीं तो दर्शन नहीं हुआ। उस शील-सदाचार की अनुभूति अपने जीवन में नहीं हुई। तो कल्याण नहीं हुआ। सम्यक दर्शन नहीं हुआ। समाधि ऐसे होती है,

ऐसे होती है। चित्त को ऐसे एकाग्र करना चाहिए। अवश्य करना चाहिए। हां, हां करना ही चाहिए, बड़ी अच्छी बात है। बड़े कल्याण की बात है। अरे, कि या तो नहीं ना! अनुभूति पर नहीं उतरा ना! तो सम्यक नहीं हुआ ना! तो अनुभूति पर उतरे।

यों शील-सदाचार को जो अनुभूति पर उतारता आ रहा है, समाधि को जो अनुभूति पर उतारता आ रहा है, वह प्रज्ञा को अनुभूति पर उतारने लायक हो गया। अब अनुभूति के बल पर, स्वानुभूति के बल पर उसका ज्ञान जाग रहा है। अरे, जो स्वानुभूति के बल पर ज्ञान जागता है भारत की पुरानी भाषा में उसी को तो प्रज्ञा कहते थे। ‘प्रज्ञा’ शब्द का शाब्दिक अर्थ यही है कि प्रत्यक्ष ज्ञान। परोक्ष ज्ञान नहीं, अपरोक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान। जो ज्ञान मेरी अपनी अनुभूति से जाग रहा है वह मेरा अपना ज्ञान है। कि सी दूसरे का ज्ञान मेरे लिए खाद का काम कर सकता है, खाद्य का नहीं। मेरे अपने ज्ञान को जगाने में सहायक हो सकता है, प्रेरणादायक हो सकता है, बल दे सकता है, मार्गदर्शन दे सकता है। पर जगाना तो अपना ज्ञान होगा। अपना ज्ञान जितना-जितना जागेगा, उतना-उतना दर्शन सम्यक होता चला गया। और यह ज्ञान, यह अनुभूति ऐसी जागी कि शरीर और चित्त के प्रपंच को पूरी तरह जान गया। शरीर और चित्त के सारे क्षेत्र को अनुभूति पर उतार लिया। तो खूब समझ गया, कैसे विकार जागते हैं? कहां जागते हैं? उन्हें कैसे रोक जा सकता है? उनका संवर्धन कैसे रोक जा सकता है? उनका निष्कासन कैसे किया जा सकता है?

यों जानते-जानते, विकारों से छुटकारा पाते-पाते सारे क्षेत्र को देखते-देखते, अपने चित्त को शुद्ध करते-करते हुए उस अवस्था पर पहुँच जाता है कि जहां शरीर और चित्त के परे का सत्य, वह परम सत्य, उसका साक्षात्कार हो जाता है। शरीर और चित्त की सच्चाई का दर्शन माने शरीर और चित्त की सच्चाई की अनुभूतियों का काम इसलिए कर रहे हैं कि इसके प्रति कि तना गहरा तादात्म्य स्थापित कर लिया? इस शरीर के प्रति “मैं, मेरा”, कि तना गहरा तादात्म्य और कि तनी गहरी आसक्ति! ऊपर-ऊपर से हजार कहता है, यह नश्वर है, यह भंगुर है, अरे, इसमें क्या पड़ा है? यह निःसार है लेकिन कि तनी गहरी आसक्ति! इसी प्रकार इस चित्त के क्षेत्र को मैं, मैं, मेरा, मेरा, कि तना तादात्म्य स्थापित कर लिया और कि तनी गहरी आसक्ति कर ली! ऊपर-ऊपर से हजार कहता है, बुद्धि से खूब कहता है, अरे, यह मन तो जड़ है, इसमें क्या पड़ा है? यह तो नश्वर है, हम खूब समझते हैं। लेकिन जानता नहीं, कोरी बातें करता है। अब जानने लगा। प्रज्ञा से जानने लगा। देख, कि तना नश्वर है? देख, कि तना नश्वर है? तो उसके प्रति जो आसक्ति थी वह टूटती है। अरे, इसलिए कर रहे हैं।

कोई आदमी कायस्थ क्यों होता है? इसलिए कि काया के भीतर ही तो सारे विकार उपज रहे हैं। काया के भीतर ही आसक्तियां जाग रही हैं और काया के प्रति जाग रही हैं, चित्त के प्रति जाग रही हैं। उससे हमें छुटकारा लेना है। कैसे छुटकारा लेंगे? उससे दूर भाग करके थोड़े ही लेंगे? उसका सामना करेंगे। देख, यह ऐसी काया, इतनी नश्वर, इतनी भंगुर, इतनी परिवर्तनशील! इसमें मेरा कोई अधिकार नहीं और उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति हो गयी! यह चित्त इतना नश्वर, इतना भंगुर। इसके प्रति इतनी आसक्ति पैदा हो गयी! यह आसक्ति टूटते-टूटते चित्त निर्मल होता

है। इस सारे अनित्य क्षेत्र का दर्शन करते-करते, अनित्य क्षेत्र की अनुभूति करते-करते चित्त को निर्मल करते-करते उसका अतिक्रमण कर देता है, उसके आगे चला जाता है। तो चित्त और शरीर के परे की अवस्था, सारे इंद्रिय-जगत के परे की अवस्था, इंद्रियातीत अवस्था, अरे, उसकी अनुभूति हो जाती है। जो नित्य है, जो शाश्वत है, जो ध्रुव है। सारा काम इसी के लिए करते हैं कि कैसे नित्य, शाश्वत, ध्रुव का दर्शन हो जाय? दर्शन हो जाय माने रूप, रंग का दर्शन नहीं, अनुभूति हो जाय। बड़ा मंगल होता है। शील इसीलिए पालन करना है कि सम्यक समाधि हो। सम्यक समाधि इसीलिए करते हैं कि प्रज्ञा जागे और प्रज्ञा द्वारा चित्त को निर्मल करते-करते सारे अनित्य क्षेत्र से आसक्ति तोड़ते-तोड़ते नित्य, शाश्वत, ध्रुव का साक्षात्कार कर लें।

अरे, इसी में तो मंगल समाया हुआ। जो इस मुक्ति के मार्ग पर चले, विशुद्धि के मार्ग पर चले, दर्शन के मार्ग पर चले, उसका मंगल ही मंगल, कल्याण ही कल्याण। स्वस्ति ही स्वस्ति, मुक्ति ही मुक्ति, मुक्ति ही मुक्ति ॥

मंगल-मृत्यु

मुंबई की श्रीमती मंजु गुप्ता ने बताया कि उनकी मां श्रीमती रामदुलारी गुप्ता जो कि अधिकांश समय अपने पुत्र श्री राजेश गुप्ता के साथ जयपुर या देहरादून रहती थीं और विपश्यना के कई शिविर करके नियमित अभ्यास करती थीं। परिवार में अन्य सभी विपश्यी साधक थे। ८ नवंबर की प्रातः अत्यंत पकी हुई अवस्था में अंतिम सांस छोड़ने तक वे पूर्णतया सजग सचेत रहीं और हर बात का सटीक उत्तर दे पा रही थीं। धर्मपथ के पथिक को ऐसी शांतिपूर्ण मृत्यु मिलनी सरल हो जाती है।

दूहा धरम रा

धरम न समझ्यो बावळो, दरसन मत मगरूर।
दरसन ही परमुख बण्यो, र्ह्यो धरम स्यूं दूर॥
संप्रदाय री बेडियां, दरसन रा जंजाळ।
कि सोंक बंधग्यो बावळो, हुयो हाल बेहाळ॥
पीकर होग्यो बावळो, दरसन मद री भंग।
ऐनक जिसो चढा लियो, दिखै बिसो ही रंग॥
बादळ छाया मोह रा, मिल्यो न साच्यो ग्यान।
“मैं, मेरो” करतो र्ह्यो, भरम्यो र्ह्यो अजान॥
दरसन होग्या देव रा, परसण होग्यो मूढ।
मन रो ही प्रक्खेप है, बात न समझी गूढ॥
अपणै दरसन सास्त्र रो, मनन कर्यो भरपूर।
जद तक दरसन ना कर्यो, सम्यक दरसन दूर॥

मेसर्स गो गो गारमेट्स

३१-४२, भांगवाडी शॉपिंग आर्केड,
१ला माला, कालवादेवी रोड, मुंबई - ४००००२.

☎ २०५०४१४

की मंगल कामनाओं सहित

दोहे धर्म के

भिन्न मतों की मान्यता, दर्शन के सिद्धांत।
धर्म छुटा उलझन बढ़ी, सभी हो गये भ्रांत॥
करे दार्शनिक कल्पना, करे वितर्क विचार।
यह सम्यक दर्शन नहीं, यह न साक्षात्कार॥
मोहक लगे मरीचिका, लगे कल्पना कांत।
सम्यक दर्शन ज्ञान से, रहे विमुख विभ्रांत॥
कर ली झूठी कल्पना, माया से भरपूर।
मिथ्या दर्शन ही मिला, सम्यक दर्शन दूर॥
दर्शन मिथ्या ही रहा, हुआ न साक्षात्कार।
कोरे चिंतन मनन का, चढ़ा शीश पर भार॥
दर्शन मत में उलझ कर, हुआ मनुज उद्भ्रांत।
धर्म न धारण कर सका, कैसे होवे शांत॥

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास

• महालक्ष्मी मंदिर लेन, ८ महालक्ष्मी चैंबर्स, २२ वार्डन रोड, मुंबई-४०००२६.
• ४९२३५२६, • सनस प्लाजा, शॉप ११-१३, १३०२, सुभाष नगर, पुणे-४११००२.
• ४८६१९०, • दिल्ली-२९१९९५, • पटना-६७१४४२, • वाराणसी-३५२३३१, •
वैंगलोर-२२१५३८९, • चेन्नई-४९८२३१५, • कलकत्ता-४३४८७४
की मंगल कामनाओं सहित

‘विपश्यना विशोधन विन्यास’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक: राम प्रताप यादव, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, दूरभाष : (०२५५३) ८४०८६, ८४०७६.
मुद्रण स्थान : अक्षर चित्र प्रिंटिंग प्रेस, ६९- बी रोड, सातपुर, नाशिक-४२२००७. बुद्धवर्ष २५४३, माघ पूर्णिमा, २१ जनवरी, २०००

वार्षिक शुल्क रु. २०/-, विदेश में US \$ 10

आजीवन शुल्क रु. २५०/-, " US \$ 100

‘विपश्यना’ रजि. नं. १९१५६/७१.

Postal Reg. Number NSM 16/99. **Licensed to post without Prepayment**

Postal Permit number 18/99

Posting day- **Purnima of Every Month**

Posted at Iगतपुरी-422403, Dist. Nashik

If not delivered please return to:-

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२४०३

जिला-नाशिक, महाराष्ट्र भारत

दूरभाष : (०२५५३) ८४०७६

फैक्स: (०२५५३) ८४१७६

Website: www.vri.dhamma.org